ज्ञान, मानव-समाज और स्वराज

जे के सुरेश और जी शिवरामकृष्णन्

सामान्य जीवन का सार

लोकविद्या परिप्रेक्ष्य से मानवता का अर्थपूर्ण इतिहास न तो सिर्फ युद्धों और विजयों की फ़ेहरिस्त है, न उनकी याद में खड़े किये गए स्मारक, और न ही उपनिवेशों से हथियाई संपत्ति के रोचक वर्णन। वह तो सामान्य लोगों के सांस्कृतिक, आर्थिक और सामाजिक जीवन की जीती-जागती कहानी है; उन लोगों ने अपने अनुभवों, अपनी श्रद्धाओं और अपने तौर-तरीकों को कैसे लोक-स्मृति में ढाला, इसकी कहानी। इस कहानी में वह केंद्र में है, जो 'आम' है, 'सामान्य' है, और साथ ही, मनुष्यता की प्रेरणा भी है। प्रेरणा, दो अर्थों में। एक तो यह कि, बृहत् समाज में जीवन-क्रियाओं, तर्क के तरीकों, श्रद्धा-प्रणालियों, और तौर-तरीकों की महान विविधता, इसकी देन है; दूसरा यह कि, 'सामान्य' पर भाषा, तर्क और विवेक के किसी विशिष्ठ व्यवस्थित अनुप्रयोग से ही हर 'असामान्य' जन्म लेता है।

समय बीतते, जो 'असामान्य' है, वह समाजों की प्रेरणा और आदर्श बनकर मुखरित होता है, तथा मिथकों, इतिहासों और सांस्कृतिक स्मृतियों के रूप में नक़ल, शिक्षा और प्रशिक्षण के माध्यमों से कई पीढ़ियों को प्रभावित करता रहता है। दूसरे तरीके से देखें, तो यह कहना ठीक होगा कि, समय के साथ 'सामान्य' के पुनर्निर्माण की प्रक्रियाओं में 'असामान्य' वह प्रेरणा है, जिसका तकाजा परिवर्तन और उन्नति का है। किसी भी समाज में 'सामान्य' तथा 'असामान्य' की यह परस्पर क्रिया इन दोनों के बीच का अंतर, और उस समाज का वजूद, दोनों को उजागर करती हैं। कला, भाषा, साहित्य, काव्य, संगीत, विज्ञान, दर्शन, तांत्रिकी, और वह सभी, जो मनुष्यता को चिह्नित करता है इन्हीं परस्पर क्रियाओं का परिपाक है। यहाँ हम यह भी स्पष्ट करना चाहेंगे कि, 'सामान्य' शब्द का प्रयोग हम इस लेख में बहुसंख्य लोगों की सामूहिक हस्ती के एक अहम आयाम के अर्थ में कर रहे हैं, न कि किसी निम्न स्थान-वाचक अर्थ में।

ज्ञान, सत्ता और राज्य

वास्तविक दुनिया में 'सामान्य' और ‘असामान्य' के बीच की परस्पर क्रियाएं न तो स्वयं-स्फूर्त होती हैं, और न ही स्वायत्त मानी जा सकती हैं। समाज में सत्ता से प्रभावित आपसी सम्बन्ध उन स्थितियों को परिभाषित और निश्चित करते हैं, जिनमें सामान्य जीवन जिया जाता है। फिर भी सत्ता में वह क्षमता नहीं है, जिससे सामान्य जीवन पर बहुत लम्बे समय के लिए अधिपत्य जमाया जा सके। उसे ऐसे मिथकों की आवश्यकता है, जो समाज के समक्ष उन नियम-कानूनों को उस पर थोपने का तर्क प्रस्तुत करते हों, जिनसे यह क्षमता हासिल हो सके। यथावकाश ये मिथक जीवन के जिन सिद्धान्तों में ढाले जाते हैं, उनके बारे में यह दावा किया जाता है कि, वे हर जगह और हर काल में सही हैं।

जैसे मात्र सत्ता दुनिया नहीं चला सकती, वैसे ही ज्ञान भी सिर्फ अपने आप में यह क्षमता नहीं रखता। सत्ता से किसी अभिन्न रिश्ते के साथ ही ज्ञान समाज के दृश्य आयामों को संगठित और व्यवस्थित करने में सक्षम होता है; तथा आचार–विचार के नियम, मान्यताएँ, सही-गलत के तर्क, आत्मा की पुकार जैसे उन अदृश्य पहलुओं को भी, जो मानवीय

क्रियाओं को निर्देशित करते हैं। दूसरे शब्दों में सत्ता दो तरह से प्रकट होती है: समाज के भौतिक और आभासी संसाधनों के उपयोग की नियंत्रक बनकर, और समाज के सदस्यों के विचारों और क्रियाओं के नियंत्रक के रूप में। इस लेख में हम यह अंकित करने के लिए कि, प्रभावशाली सत्ता ज्ञान से अलग नहीं की जा सकती, 'ज्ञान-सत्ता' इस शब्द का प्रयोग करेंगे।

इस समझ के साथ हम राज्य को कैसे देखें? कहा जा सकता है कि, सैकड़ों वर्षों, या हो सकता है, और भी लम्बे समय के ज्ञान-सत्ता के अनुप्रयोगों से एकत्रित मान्यताओं तथा क्रियाओं का गठजोड़ ही राज्य है। किसी भी गतिशील समाज में मान्यताएं, तौर-तरीके, उत्पादक विधाएं और आर्थिक संगठन के जोड़-तोड़ और पुनर्निर्माण से ज्ञान-सत्ता में लगातार परिवर्तन होता रहता है। राज्य ज्ञान-सत्ता की क्रियाओं में सातत्य स्थापित कर अपने अलग अस्तित्व का कारण पुख्ता करता है।

जब राज्य पर कुछ लोग काबिज हो जाते है, जो कि आज हो रहा है, उनके हितों की रक्षा का मक्सद न्याय और निष्पक्षता के सारे आदर्शों को ताक पर पहुँचा देता है। यही मक्सद राज्य द्वारा समाज के लिए नियत मान्यताओं और कर्तव्यों पर भी हावी हो जाता है। यही कारण है कि, आज समाज में प्राथमिक अंतर्विरोध पूंजी और श्रम के बीच न होकर, राज्य और श्रम के बीच है। इस अंतर्विरोध का रूप वह तनाव है, जो एक तरफ राज्य की ज्ञान-सत्ता और दूसरी तरफ बहुसंख्य जनता के बीच है, या एक तरफ विशेषज्ञों का ज्ञान और दूसरी तरफ सामान्य जीवन में अन्तर्निहित ज्ञान इनके बीच।

आधुनिक युग में राज्य

सोलहवीं सदी में आधुनिक राज्य के उदय के साथ राज्य और ज्ञान-सत्ता के जोड़ में काफी दूरगामी परिवर्तन हुए। इससे पहले, जब यह जोड़ कुछ कमजोर हुआ करता था, राज्य अपनी सत्ता का उपयोग कुछ सीमाओं में बंधकर कर किया करता था, तथा समाज अगर बहुत समृद्ध नहीं, तो कम से कम आज से अधिक न्याय-प्रिय हुआ करता था। लेकिन जैसे-जैसे राज्य अन्य समाजों से युद्ध, उनके दमन और उनपर शासन की लालसा से ज्ञान-सत्ता पर हावी होता गया, सामान्य जीवन में अन्तर्निहित ज्ञान का दर्जा नीचा आँकने के अभियान चले, और बृहत् समाज के बहुसंख्य लोगों के गौरव और सम्मान, जीवनयापन, और यहाँ तक कि, उनके स्थान और पहचान तक पर गंभीर आघात होने लग गए।

ज्ञान-सत्ता की बढती पहुँच

आधुनिक युग में यूरोप की ज्ञान-सत्ता की गति में जो बात निर्णायक साबित हुई, वह थी उस ज्ञान को उसके अपने जन्म-स्थान और संदर्भों से विभक्त कर पाना, तथा औद्योगिक क्रान्ति के दौरान और उसके बाद उसका बहुत बड़े पैमाने पर व्यापक उपयोग। तब तक इंग्लॅण्ड ने लगातार अधिकाधिक जटिल ज्ञान को मशीनों के अन्दर अवतरित करने की और समाज-प्रबंधन की काबीलियत हासिल कर ली थी। धीरे-धीरे इस क्षमता का लोहा, कपड़ा, भाप से चालित मशीनें और औजार जैसे क्षेत्रों में, तथा बीसवीं सदी के आरम्भ से बहुत बड़ी मात्रा में वस्तुओं के उत्पाद के लिए उपयोग होने लगा। इसके साथ उत्पादक मानवीय क्रियाएं मात्र शारीरिक परिश्रम तक सीमित, या उसमे परिवर्तित होने लगीं।

इन प्रक्रियाओं से यह सूचित होता है कि, ज्ञान जब अपने स्थानीय सन्दर्भों से विभक्त हो जाता है, तब वह कुछ नया चरित्र, और गति अख्तियार कर लेता है, तथा समय के साथ वह अधिक कार्यक्षम तान्त्रिकी के रूप में नया अवतार लेता है।

बीसवीं सदी के अंत में सूचना और संचार तांत्रिकी ने दुनिया भर के लोगों, ज्ञान और तरह-तरह की उत्पादक विधाओं को सर्वथा नए अर्थों में आपस में जोड़ा। संचार और सूचनाओं की गति में हुई बड़ी भारी बढ़ोत्तरी ने ज्ञान के अपने सन्दर्भों से विभक्तिकरण, और अधिकाधिक जटिल प्रणालियों में उसके अवतरण की प्रक्रियाओं को बहुत बड़ा प्रोत्साहन दिया। इस प्रक्रिया के कारण ज्ञान-सत्ता ने अपने आप को दुनिया भर के प्राकृतिक और मानवीय संसाधनों का दोहन और प्रबंधन करने की अगाध क्षमता हासिल कर ली। परिणाम यह है कि, राज्य ने अपने लिए अभूतपूर्व ताकत अख्तियार कर ली है।

ज्वार का फेर: भारत में राज्य और ज्ञान-सत्ता

पिछले कुछ दशकों ने दुनिया के प्रगाढ़ धनिकों ने अपने मुनाफे, ताकत और नियंत्रण को बढाने में भारी सफलता पाई है। इसके साथ ही राज्य द्वारा अपने अधिकारों में अत्यधिक इजाफा कर लिया है। इन घटनाओं से बहुसंख्य लोगों के गौरव, जीवनयापन की लूट-खसोट और अन्याय का दुष्टचक्र चल पडा है। ज्ञान-सत्ता ने भी इस दरमियाँ लोगों के जीवन के अनेक पहलुओं का यंत्रीकरण और स्वचालीकरण करने की दिशा में बड़े कदम उठा लिए हैं, जिनका अपरिहार्य परिणाम धीरे-धीरे हुनरमंद लोगों की जरूरत को घटाने का ही हो सकता है। राज्य के सारे औजार और शस्त्र बहुसंख्य लोगों के विरोध में खड़े होने की इस स्थिति में लोगों की खिलाफत और संघर्ष की ताकत और इच्छा दोनों घटे हुए से मालूम पड़ते हैं। संघर्ष सिर्फ अभिजात धनाढ्यो के खिलाफ नहीं है, बल्कि उससे भी है जो सामान्य जीवन की आत्मा चूसकर उसे राज्य का एक औजार मात्र बना छोड़ता है, ताकि उसे और बड़ी खाई में झोंका जा सके।

इस मकाम पर कुछ प्रश्न खड़े होते हैं: क्या यह घटना-क्रम सार्वभौम है, जो हर समाज के साथ में होता है, होता रहेगा, और क्या सब सामान्य जीवन जीनेवालों के भाग्य में उनके कर्मों का सम्पूर्ण विलोप लिखा हुआ है? परिणामवश, क्या हम सब हमारे अपने समाजों को इस प्रकार विसर्जित होने से रोकने में ना-काबिल हैं?

इन प्रश्नों के उत्तर शायद उन महान चुनौतियों में ढूंढने होंगे, जो चार शतकों के सारी दुनिया पर औपनिवेशिक वर्चस्व के सामने में भारत में महात्मा गांधी के नेतृत्व ने खड़ी कीं। इनका वास्ता मात्र परदेसी शासन की खिलाफत से नहीं था, बल्कि जीवन, राजनीति, समाज, तथा विशेषतया राज्य और ज्ञान-सत्ता के बीच के संबध इन सभी पर यूरोप के वैचारिक प्रभुत्व की जड़ों पर कुठाराघात करने से था।

ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे देश के बृहत् समाज ने सफलता से लम्बे समय तक ज्ञान और सत्ता के दरमियाँ अंतर बनाकर रखा। परिणामवश, समाज पर किसी भी किस्म का व्यापक नियंत्रण राज्य के बस की बात कभी नहीं बन पाई। यहाँ के बारे में अंग्रेजों के कुछ शुरूआती ब्योरों में हम पाते हैं कि, अवध के नवाब का आम लोगों के साथ भोजन करना, या देश भर में राज-परिवारों के सदस्यों की सीधी सरल रुचियाँ और आदतें उनके लिए चौंकाने वाले और पूर्णतया

अनपेक्षित थीं। राजाओं के बारे में अंग्रेजों की कुछ अलग किस्म की धारणाएं थीं। धरमपाल तथा अन्य इतिहासकारों के विचार में हमारे समाज में तुलनात्मक असमानता अधिक नहीं थी, और भूतकाल में कभी बहुसंख्य जनता विपन्नावस्था में नहीं थी।

बात यह नहीं कि, युद्ध और चढ़ाइयाँ कोई महत्व नहीं रखते थे। या, यह भी नहीं कि उनकी संख्या बहुत कम थी। हमारे भूतकाल में भी राज्य के प्रभावशाली शस्त्रों में हिंसा तथा युद्ध की गिनती अवश्य थी। लेकिन, सोलहवीं सदी के युरोप की तरह शत्रु को निर्णायक दीर्घकालीन नुक्सान पहुंचाने की राज्य की कोई हैसियत नहीं बनती थी, क्योंकि यहाँ सत्ता और ज्ञान के बीच की कड़ी कमजोर थी। राज्य की इसी कमजोरी में ही कानून-व्यवस्ता की न्याय और निष्पक्षता से नजदीकी का राज था। और इसका भी कि, किसान पर फसल के 15-20 प्रतिशत से अधिक कर नहीं लग पाया। शायद इसीलिए तांत्रिकी में भी धीरे-धीरे ही परिवर्तन हो पाए। बैलगाड़ी, खेती के लिए जल-प्रणाली, घरों का निर्माण, उद्योग, स्वास्थ्य-प्रणालियाँ, युद्ध के तंत्र इन सभी में बदलाव तो हुए, लेकिन धीमी गति से। ऐसा जान पड़ता है कि, प्रभावशाली विकेंद्रीकरण, लोक-जीवन में शान्ति, विविधता से समृद्ध जीवन-प्रकार, और दास-प्रथा, भुखमरी तथा व्यापक हिंसा का अभाव, ये सब सत्ता और ज्ञान के विभक्त रहते संभव हैं, तथा इस तथ्य का सटीक प्रमाण हमारे भूतकाल में मौजूद है।

इन सन्दर्भों में हमें जाति प्रणाली को फिर से समझना होगा। यहाँ की जाति-व्यवस्था वह सामाजिक गठबंधन है, जिसने हजार वर्ष से बृहत् समाज में सर्वव्यापी, केंद्रीकृत सत्ता के अवतरण से बचाये रखा है। साथ ही इस व्यवस्था ने समाज को बिखराव से भी बचाए रखा है। कई तरीकों से जाति अन्याय और पक्षपात से बचने का माध्यम बनती रही है: सुलह-वार्ता, असहकार, राजा के क्षेत्र से दूर स्थानान्तरण, हड़ताल, अनशन, किसी समाज को विशिष्ठ सेवा देने से इनकार, और कुछ गिने-चुने मौकों पर आत्म-त्याग। खिलाफत के तरीकों की इस विविधता और कार्यक्षमता के कारण ही शायद ज्ञान और सत्ता का जोड़ साधने में, और अधिक दमनकारी व्यवस्था खड़ी करने में राज्य को कभी सफलता हासिल नहीं हुई। हो सकता है कि, इसी कारणवश बाहरी पर्यवेक्षकों को हमारा देश एक ऐसी चिरायु सभ्यता के रूप में नज़र आया, जहाँ संयम, सहनशीलता और सरल तथा पारलौकिक में श्रद्धा का साथ विपुलता से था।

स्वराज: गांधी जी के समय और बाद में

अठ्ठारहवीं सदी के उत्तरार्ध से यहाँ के समाज की तोड़-फोड़ दो कारणों से हुई। पहला अंग्रेजों द्वारा समाज के तौर-तरीकों, मान्यताओं को बड़ी मात्रा में तिरस्कृत और अपमानित किया जाना, सामूहिक हत्या और अभूतपूर्व हिंसा का माना जाएगा। दूसरा है, अंग्रेजी मार से यहाँ के अभिजात वर्ग का संपूर्णतया बिखर जाना। राज्य-ज्ञान-सत्ता के गठबंधन का आकर्षण इतना प्रभावशाली सिद्ध हुआ कि, ब्राह्मणों ने जीती-जागती पारंपरिक क्रियाओं को निर्जीव नियम-कानूनों और कर्मकाण्डों के रूप में ग्रंथों में बांध छोड़ना स्वीकार किया। अभिजात वर्गों ने अंग्रेजी कानून-व्यवस्था को न्याय करने के समर्थ, देसी, स्थानीय तौर-तरीकों से ऊपर का स्थान बहाल कर दिया। नतीजा यह हुआ कि, आम लोगों की नज़र में गोरा अंग्रेज ब्राह्मण और क्षत्रिय का अद्वितीय संगम सा बन चला।

स्थितियां कुछ इसी प्रकार की थीं, जब महात्मा गाँधी के अहिंसा, सत्याग्रह, और असहकार के अभियान ने समाज को झकझोर कर जागृत किया। गांधीजी का मक्सद मात्र देश को परकीय सत्ता से छुटकारा दिलाने का ही नहीं था। उनके कार्य की प्रेरणा उस आधुनिक राज्य सत्ता से दुनिया को मुक्ति दिलाने की थी, जिसकी असीम ताकत बहुत बड़े पैमाने पर दुष्प्रचार, तांत्रिकी, और युद्ध के साधनों के जरिये सामान्य लोगों पर तो अधिपत्य जमाती है ही, लेकिन उससे भी आगे अपने मालिकों को भी गुलाम बनाती है।

गाँधीजी ने अहिंसा, निजी अनुशासन और सामूहिक असहकार जैसी नवजात संकल्पनाओं के माध्यम से इस मुक्ति संग्राम को सरलता प्रदान करने के लिए भारतीय और अंग्रेज अभिजात वर्गों को अपने कार्य में शामिल करने की रणनीति को अंजाम दिया। उनके प्रयासों को अनैतिकता और राज्य तथा ज्ञान-सत्ता के गठबंधन की संप्रभुता की खिलाफत के रूप में समझा जा सकता है। उनकी दृष्टि में प्रगति और सभ्यता की अंग्रेजी धारणाओं में ही सब बुराइयों की जड़ थी। अपने कारनामों को दुनिया को सभ्य बनाने के अभियान के रूप में पेश करने के अंग्रेजों के प्रयास की भी गांधीजी ने भारी भर्त्सना की। उन्होंने राष्ट्रवाद के विचार को नकारा। उन्हें शायद इस बात का अंदेशा था कि, पश्चिमी ज्ञान-मूलक तत्वों के सहारे ताकतवर होकर राज्य अपने ही लोगों के दमन को न्याय का जामा पहनाने की कोशिशें कर सकता है।

गांधीजी दृष्टि में भारतीय समाज की जो भावी छवि हो सकती थी, उसका सटीक उदाहरण बीसवीं सदी के चौथे दशक में महाराष्ट्र में सातारा जिले में औंध के राजा द्वारा उसके अपने छोटे से राज में किये गए उन प्रयोगों में देखी जा सकती है, जिनका निर्देशन उन्होंने राजा के कहने पर किया। प्रतिनिधित्व के तरीके, निर्णय-प्रक्रिया की स्थानीयता, संसद द्वारा अपने अधिकारों का उपयोग, और संसद के कार्य पर देख-रेख के विषय में गांधीजी सलाह और सिफारिशों को ज्ञान-सत्ता को उसके अपने ही कार्यक्षेत्र, अर्थात् राज्य, से बेदखल करने के पहले अत्यंत महत्वपूर्ण प्रयासों के तौर पर देखा और समझा जा सकता है।

राज्य की दखल और भूमिका में निर्णायक कटौती और उसके साथ व्यक्ति द्वारा कर्तव्यों का वहन इन दोनों के संयोग से स्वराज्य की स्थापना गांधीजी की नज़र में ऐतिहासिक जरूरत थी। यही शर्त भी थी राज्य और ज्ञान-सत्ता के बीच के उस गठबंधन को तोड़ने की, जिसने राज्य को लोगों के जीवन पर राज करने की क्षमता दी। शायद उनका यही विशवास था, जब उनहोंने पश्चिमी सभ्यता को दुष्ट और निर्दयी घोषित किया। चूँकि गाँव में राज्य तथा ज्ञान-सत्ता का गठजोड़ कमजोर था, मानवीय पहल वहाँ मुखर सकेगी इसी विशवास के साथ शायद उन्होंने गाँव को केंद्र में रखने पर भी जोर दिया।

अगर वर्त्तमान परिस्थितियों में हम गांधीजी के कार्य और सीख से प्रेरणा लेना चाहते हैं, तो यहाँ हमने जिन धारणाओं की बात की, ऐसी ही कुछ धारणाओं की मदद से हमें शायद गांधीजी के जीवन को दोबारा समझने की जरूरत है। बहरहाल, इसमें कोई संदेह नहीं कि, राज्य तथा ज्ञान-सत्ता का गठजोड़ अपनी आज की स्थिति में तब तक एक के बाद एक संकट बरपायेगा, जब तक उसका कोई दृढ-संकल्प विरोध खडा नहीं हो जाता। ऐसा दृढ-संकल्प विरोध कहाँ से उठेगा, यह कम से कम आज स्पष्ट नहीं है।